



Knowledge Consortium of Gujarat

Department of Higher Education - Government of Gujarat

Journal of Humanity

ISSN: 2279-0233

Year-2 | | Continuous issue-7 | July-August 2013

नैतिकता का सर्वोच्च वैदिक आदर्श ¹

आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन – ये चार क्रियाएँ प्राणिमात्र में होती हैं।² मानव को भी यदि एक प्राणी के रूप में देखें, तो उसमें भी ये सभी क्रियाएँ वर्तमान हैं। इस कारण पशु तथा मानव में कोई अन्तर नहीं है। पर, सूक्ष्मता से विचार ने पर पता चलता है कि पशु इन क्रियाओं को अपनी वृत्ति समझते हैं। अतः इन के आवेग के उठने पर सहज रूप से उस उस क्रिया में प्रवृत्त हो जाते हैं। जब कि मानव की स्थिति इससे भिन्न होती है। मानव में जब इन क्रियाओं का आवेग उठता है, तब वह प्रथम तो इन क्रियाओं को अपनी वृत्ति समझता है, पर तुरन्त ही उसके मन में कुछ विचार उत्पन्न होते हैं, और फिर वह इन विचारों की छाया में अपने विवेक को सामने रख कर उस उस क्रिया में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार प्राणियों में उठने वाले आहारादि चतुर्विध आवेगों में प्रवृत्त होने की प्रक्रिया के भिन्न होने से पशु तथा मानव एक दूसरे से अलग पड़ते हैं।

एक और भी कारण है, जो मानव को पशु से अलग करता है। मानव के द्वारा की जाने वाली आहारादि क्रियाओं पर भावना का भी प्रभाव होता है। इसी कारण मानव समाज को भावना प्रधान समाज माना गया है।³ मानवीय प्रत्येक व्यवहार में इस भावना की उपस्थिति होती है। आहारादि क्रियाओं में प्रवृत्त होने वाले किसी मानव में यदि किसी भावना के दर्शन न होते हों, तो वह क्रिया मानव की न हो कर महज एक पशु की क्रिया बन जाती है। फिर पशु और मानव में कोई भेद नहीं रहता है।

इस प्रकार मानव में रहने वाले 1. विवेक तथा 2. भावना, मानव को अन्य प्राणियों से अलग करते हैं। बहुत प्राचीन काल से मानव समाज ने इन्हें अपने अनुभव में लिया है। इतना ही नहीं इनके विविध रूप भी अनुभूत किये हैं। विवेक तथा भावना के इन विविध अनुभूत रूपों का समय समय पर विद्वानों ने प्रथम तो नामकरण किया है, उनका स्वरूप निर्धारित किया है और शनैः शनैः उन्हें मानवसमाज के प्रत्येक सदस्य के जीवन में व्यापकरूप से फैला देने का प्रयत्न भी किया है। इसी प्रयत्न को हम भारतीय समाज में नीति या नैतिकता के नाम से जानते हैं।⁴

भारतीय समाज प्राचीन काल से ही इस नीति या नैतिकता की भावना को मानवमात्र में प्रस्थापित करता रहा है। उस समय के समाज के नेतृत्व करने वाले प्रत्येक महानुभाव ने, धर्म तथा दर्शन के क्षेत्र में मतभिन्नता के होते हुए भी, इस मानवीय नीति या नैतिकता को समानरूप से स्वीकार किया था। इतना ही नहीं इसी नीति या नैतिकता की भावना के कारण ही मानव समाज के प्रत्येक सदस्य को समान रूप से विकसित होने का तथा सुख, शान्ति, आनन्द आदि के अनुभव करने का अवसर प्राप्त हो सकता है, इस परम रहस्य को पा लिया था, तथा उसका स्वीकार भी कर लिया था।

औद्योगिकीकरण के आज के इस युग में हमने मानव के विकास के लिये तथा मानव को सुख, शान्ति एवं आनन्द की अनुभूति हो, इसके लिये प्रायः सभी साधन विपुल प्रमाण में उपलब्ध करवा दिये हैं। पुनरपि आज के मानव समाज को देखते हुए यह कहना गलत न होगा कि विकास के तथा सुख, शान्ति, एवं आनन्द की प्राप्ति के सभी साधनों के पुष्कल प्रमाण में उपलब्ध होने पर भी मानव समाज के प्रत्येक सदस्य को समान रूप से विकास करने के तथा सुख, शान्ति एवं आनन्द को प्राप्त करने के अवसर समाप्त हो रहे हैं। वस्तुतः साधनों की उपलब्धता की ओर दृष्टि रख कर किये गये इस विकास में हमने नीति या नैतिकता की भावना को अपनी दृष्टि से दूर कर दिया है। यही कारण है कि आज हमें मानव समाज के विशिष्ट गुणरूप नैतिकता की भावना के विषय में कुछ सोचना पड़ रहा है।

इसी पृष्ठभूमि पर हम यहाँ प्रस्तुत आलेख में मानवीय समाज की नैतिकता की भावना के विषय में कुछ विचार कर रहे हैं। यह तो मानना पड़ेगा कि मानवीय नैतिकता की भावना बहुत ही सूक्ष्म और बहुत ही व्यापक है। इसलिये इसे किसी एक छोटे से निबन्ध में आकारित कर एकत्र करना संभव नहीं है। संभवतः इसी कारण मानवीय नीति के स्वरूप का इदमित्थंतया निर्धारण करना और निर्धारण करके किसी देश या किसी समाज में इसे कानून का रूप दे देना, आज तक कहीं पर संभव नहीं हो पाया है। इस सत्य को हमारे प्राचीन आप्तजन जानते थे। इसी कारण उन्होंने ने मानवसमाज की उन सभी नीतियों का मूलतत्त्व खोज लिया तथा उसे समग्र मानव जीवन में व्यापक रूप से

लागू करने के उपाय भी क्रियान्वित किये थे। दुर्भाग्य है कि आज हमारा उस ओर कोई ध्यान नहीं है। प्रस्तुत आलेख में हम मानव समाज में अपेक्षित उन सभी नीतियों के मूलभूत तत्व का विमर्श कर रहे हैं, जिसे प्राचीन भारतीय समाज के सभी वर्ग ने सहर्ष स्वीकार किया था और उसी के कारण वह प्राचीन भारतीय समाज मानवीय विकास की समृद्धि की ऊँची बुलन्दियों को छूता था। भारतीय समाज की नीतियों का प्राचीनतम उपदेश जिसमें संगृहीत माना जाता है, उस ऋग्वेद का एक मन्त्र है -

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेषु असमा बभूवुः ।
आदध्नास उपकक्षास उ त्वे हृदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥⁵

इस मन्त्र में जो कहा गया है, उसे इस मन्त्र के भाष्यकारों ने बहुत ही स्पष्ट से अभिव्यक्त किया है। वेद के भाष्यकारों में सुप्रसिद्ध आचार्य सायण ने इस मन्त्र का भाष्य करते हुए लिखा है - " अक्षण्वन्तः अक्षिमन्तः । .. अनेन दृश्यते सर्वमित्यक्षि । यद्वा - तैजसत्वात् अन्येभ्यो इगेभ्यो व्यक्ततरम् । तादृशाक्षियुक्ताः । कर्णवन्तः .. कर्णविलक्षणाकाशवन्तः , तादृशाः सखायः । समानं ख्यानं ज्ञानं येषामिति सखायः । तेषु वाक्येषु बाह्येष्विन्द्रियेषु समानज्ञानाः इत्यर्थः । ते मनोजवेषु मनसा गम्यते जायन्ते इति मनोजवाः प्रजाद्याः । तेषु असमा अतुल्याः बभूवुः भवन्ति । तेषु मध्ये केचन आदध्नासः ... आस्यदध्नाः आस्यप्रमाणोदका हृदा इव मध्यमप्रज्ञानाह । अथ त्वे एके उपकक्षासः कक्षसमीपप्रमाणोदका हृदा इव । अल्पोदका इत्यर्थः । अनेनाल्पप्रज्ञानाह । तथा त्वे एके स्नात्वाः ... स्नानार्हाः अक्षोभ्योदकाः हृदा इव ददृश्रे दृश्यन्ते । अनेन महाप्रज्ञानाह । "⁶

उपर्युक्त भाष्य में आचार्य सायण ने मानव समूह को आँख - कान आदि बाह्य इन्द्रियों की दृष्टि से एक समान बताया है। परन्तु यही एक समान प्रतीत होने वाला मानव समूह अपने अपने मनोगम्य अर्थात् बुद्धिगम्य प्रज्ञान की दृष्टि से त्रिविध बताया है। इन में कुछ लोग अल्पप्रज्ञ होते हैं, कुछ लोग मध्यमप्रज्ञ होते हैं तथा कुछ लोग महाप्रज्ञ होते हैं। इस प्रकार इन्द्रियों की समानता के कारण समान दिखाई देने वाला मानव समाज मनोजव के कारण विविधता पा लेता है। वस्तुतः यह विविधता मानव समाज के द्वारा स्वीकृत विविध प्रकार की नीतियों के कारण आती है। इन्हीं नीतियों को इस वेदमन्त्र में मनोजव के रूप प्रस्तुत किया गया है।

इस मन्त्रार्थ पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि इस मन्त्र में प्रथम तो उस कारण का वर्णन किया गया है कि जिस कारण के चलते समग्र मानव समाज समान होता है, और समान ही दिखाई देता है। इस प्रकार प्रथम मानवीय समाज की समानता बता कर, बाद में इस समान दिखाई देने वाले मानव समाज में जिस कारण से असमानता आ जाती है, उस कारण का भी यहाँ वर्णन किया है।

वेद का मानना है कि आँख, कान आदि बाह्य इन्द्रियों की दृष्टि से देखने पर सभी मानव एक समान दिखाई देते हैं। पर, इन इन्द्रियों के परे जो एक मन नामक तत्त्व है, उस(मन)की गति प्रत्येक मानव में भिन्न भिन्न होती है। मन की गति की भिन्नता के कारण ही मानवसमाज में असमानता खड़ी हो जाती है। इस असमानता के तीन स्तर वेद के इस मन्त्र में बताये गये हैं। एक स्तर उन मानवों का है, जो आदध्नासः अर्थात् मध्यमप्रज्ञ होते हैं। दूसरा एक स्तर उन मानवों का होता है जो उपकक्षासः अर्थात् अल्पप्रज्ञ होते हैं। एक और स्तर होता है जिसे आचार्य सायण ने स्नानार्हाः अक्षोभ्योदकाः हृदा इव इन शब्दों से स्पष्ट किया है, और अन्त में इन का भाव बताते हुए इन्हें महाप्रज्ञ कहा है। इस प्रकार समग्र मानव समाज में ये त्रिविध मानव समूह अलग अलग दिखाई पड़ते हैं।

तात्पर्य यह है कि मानव समाज के प्रत्येक सदस्य को आँख, कान, मुख आदि बाह्य इन्द्रियाँ एक समान प्राप्त हुई हैं। साथ ही इन इन्द्रियों से परे एक मन नामकतत्त्व भी प्रत्येक को प्राप्त हुआ है। इस मन की गति को प्रत्येक मानव स्वयं अर्जित करता है, तथा स्वयं ही इसकी गति की दिशा भी निर्धारित करता है। मानव के द्वारा विविध उपायों से प्राप्त की गई मन की इसी गति के कारण बाह्यरूप से एक समान दिखाई देने वाला मानव एक दूसरे से अलग बन जाता है। अर्थात् मानव समाज में मानव मानव के बीच जो विभाग बनते हैं, उनका कारण प्रत्येक मानव के द्वारा व्यक्तिगत रूप से प्राप्त की जाने वाली अपने अपने मन की गति है।

उपर्युक्त मन्त्र में मन की जिस गति का वर्णन है, उसकी दिशाएँ विभिन्न हैं। इन विभिन्न दिशाओं को निर्विवाद रूप से अच्छी दिशा तथा बुरी दिशा के रूप में दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। इन में जो अच्छी दिशा है वही नीति या नैतिकता है और जो बुरी दिशा है वही अनैतिкиय या अनैतिकता है। परन्तु, अच्छी दिशा तथा बुरी दिशा के स्वरूप का निर्धारण कैसे हो ? यह समस्या है। इस समस्या का समाधान हम स्वतन्त्र रूप से विचारने बैठेंगे, तो वह बड़ा मुश्कील कर्म होगा। क्योंकि एक तो मानवीय मन की गति की दिशाओं को निर्धारित करना ही मुश्कील है। और फिर उनमें अच्छी बुरी का निर्धारण करना तो और मुश्कील कार्य है। परन्तु यदि हम उपर्युक्त मन्त्र को ध्यान में रख कर विचार करेंगे, तो यह मुश्कील काम आसान हो जायेगा।

इस उपर्युक्त सन्दर्भ में आगे कुछ विचार करें, उससे पहले मानव के द्वारा आचरण में लायी जाने वाली उन छ क्रियाओं की ओर भी एक

दृष्टि कर लेनी आवश्यक है, जिन्हें निरुक्तकार ने किसी प्रसंग में षड्भावविकार के रूप में उपदिष्ट किया है।⁷ आचार्य यास्क के अनुसार मानव जीवन की प्रथम क्रिया 1. जायते अर्थात् उत्पन्न होना है। उत्पन्न होने के बाद अस्तित्व की सूचक 2. अस्ति क्रिया आती है। तदनन्तर (3. विपरिणामते) विपरिणाम की प्रक्रिया होती है। ये तीन क्रियाएँ थोड़े से नियत समय में सम्पन्न हो जाती हैं। फिर आती है 4. वर्धते क्रिया। इस क्रिया को सम्पन्न करने के लिये मानव को काफी लम्बा काल प्राप्त होता है। निरुक्तकार यास्क का मानना है कि मानव के द्वारा की जाने वाली यह वृद्धि क्रिया दो प्रकार से सम्पन्न होती है। वर्धत इति स्वाङ्गाभ्युच्चयं सांयोगिकानाम् वा अर्थानाम्। अर्थात् एक तो शरीर से तथा दूसरी सांयोगिक अर्थों से।⁸

इस का आशय यह है कि मानव अपने विभिन्न क्रियाकलापों को करते हुए एक ओर अपने शरीर का विकास करता है, तो दूसरी ओर ज्ञान, धन-धान्य, यश आदि अपने से जुड़े हुए विभिन्न पदार्थों की प्राप्ति करता हुआ अपना सांयोगिक विकास करता है। अर्थात् विकास की इस प्रक्रिया में मानव शारीरिक तथा सांयोगिक अनेकानेक पदार्थों का स्वामी बनता है। अब प्रश्न यह होता है कि अपने स्वामित्व वाले इन पदार्थों के प्रति मानव के मन की जो गति होगी, उसकी दिशा क्या हो? क्या उन पदार्थों के भोग की दिशा में मानव मन गति करे? या फिर उन पदार्थों के संग्रह तथा संरक्षण की दिशा में मानव मन की गति हो? या फिर कोई ओर भी दिशा है, जिस ओर मानव का मन गति करे? इन्हीं प्रश्नों की पृष्ठभूमि पर मानव मन की गति की जो संभवित विभिन्न दिशाएँ हैं, उनमें से किस दिशा को नीति या नैतिकता का दरज्जा दिया जाय और इसके विपरीत किस दिशा को अनीति या अनैतिकता का दरज्जा दिया जाय? यह भी विचारणीय बनता है।

हमारे विचार से उपर्युक्त मन्त्र में इन्हीं प्रश्नों के उत्तर दिये गये हैं। जैसा कि उक्त मन्त्र का अर्थघटन करते हुए आचार्य सायण ने कुछ लोगों को अल्पप्रज्ञ, कुछ लोगों को मध्यमप्रज्ञ तथा कुछ लोगों को महाप्रज्ञ बताया है। यह भेद उन उन मानवों के मन की गति की दिशा की विभिन्नता के कारण से ही खड़े होते हैं। मानवीय मन की गति की इन विभिन्न दिशा के आधार पर भारतीय संस्कृति ने मानव समाज के समक्ष त्रिविध नीतियाँ रखी हैं। प्रथम नीति है पदार्थों के भोग की। द्वितीय नीति है पदार्थों के भोग तथा संग्रह - संरक्षण की तथा तृतीय नीति है पदार्थों के त्याग की, दान की। इनमें जो अल्पप्रज्ञ मानव हैं, वे भोग की दिशा में अपने मन को प्रवृत्त करते हैं। जो मध्यमप्रज्ञ मानव हैं वे कुछ मात्रा में भोग तथा कुछ मात्रा में संग्रह की दिशा में अपने मन की गति करते - कराते हैं। जब कि महाप्रज्ञ मानव अपने स्वामित्व के पदार्थों को त्यागने, दान देने की दिशा में अपने मन को गतिमान करते हैं। मानव मन की जो यह तीसरी गति है, वही मानवीय नैतिकता का सर्वोच्च आदर्श है।

भारी तप तथा श्रम के द्वारा विविध पदार्थों को प्राप्त करके मानव आज जिन पदार्थों का स्वामी बना है, उन पदार्थों में से बहुत ही थोड़े से पदार्थों को अपने भोग के लिये स्वीकार करता है और शेष पदार्थों के प्रति वह इदं न मम की भावना करता है। इसी भावना से प्रेरित हो कर वह दूसरों के (सभी मानवों के तथा सभी प्राणियों के) सुख के लिये उन्हें सहर्ष समर्पित कर देता है। इसी समर्पणभाव को वैदिक संस्कृति की दृष्टि में सर्वोच्च नैतिकता का आदर्श माना गया है।

कठिन परिश्रम करते हुए अपने मन की गति उन उन पदार्थों की प्राप्ति के प्रति रखना तथा विविध पदार्थों की प्राप्ति करते हुए अपनी सांयोगिक वृद्धि करते रहना यह प्रथम चरण है। इस प्रथम चरण में सभी समान होते हैं। परन्तु इस प्रथम चरण की समाप्ति के बाद मानव के मन की गति की त्रिविध दिशाएँ हैं, जिनका वर्णन उपर्युक्त मन्त्र में 1. आदध्नासः, 2. उपकक्षासः तथा 3. स्नात्वा इन तीन शब्दों से किया गया है। वेद के मन्त्र में प्रयुक्त इन शब्दों का अर्थघटन करते हुए आचार्य सायण ने क्रमशः 1. मध्यप्रज्ञ, 2. अल्पप्रज्ञ तथा 3. महाप्रज्ञ - ये तीन शब्द दिये हैं। हमारे मत से यहाँ मध्यप्रज्ञ का आशय उन लोगों से है जो अपने स्वामित्व के पदार्थों को आधा भोगते हैं, और आधा अपनी पसंदगी के लोगों में बाँटते हैं। जब कि अल्पप्रज्ञ का आशय उन लोगों से है जो अपने स्वामित्व के पदार्थों को मात्र ओर मात्र अपने ही लिये प्रयोग में लाते हैं। अपने पदार्थों को वे खुद ही खुद भोगते रहते हैं। दूसरों के लिये अपने पदार्थों के प्रयोग की वे कल्पना भी नहीं करते हैं। परन्तु तीसरे प्रकार के जो महाप्रज्ञ होते हैं, वे अपने स्वामित्व के उन पदार्थों के अल्प प्रमाण में अपने प्रयोग में लाते हैं। अधिक प्रमाण में तो वे अपने स्वामित्व के उन पदार्थों के प्रति ममत्व का त्याग करते हुए, बिना किसी भेदभाव के प्राणिमात्र के लिये समर्पित कर देते हैं।

इस प्रकार प्रथम चरण में तो मानव मात्र समान व्यवहार करता हुआ समान दिखाई देता है। परन्तु इस द्वितीय चरण में अपने अपने मन की भिन्न भिन्न गति के कारण मानव मानव में भेद दिखाई देने लगता है। इस भेद की स्थिति में महाप्रज्ञ के मन की गति की जो दिशा है, उसे ही मानव जीवन की सर्वोत्तम नीति स्वीकार की गई है, और इसी नीति से मानव जीवन जीना ही वैदिक भारतीय मानव समाज की दृष्टि में नैतिकता का सर्वोत्तम आदर्श है।

रामायण , महाभारत आदि में इसी नैतिकता के आचरण के कदम कदम पर दर्शन होते हैं । रामने अतीव संघर्ष करके वालि को जीता , पर विजय हो जाने पर जीते हुए राज्य को सुग्रीव को समर्पित कर दिया । लंकाविजय के बाद राम ने प्राप्ति के अनन्तर त्याग की इसी नैतिकता का आचरण करते हुए विभीषण को लंका का राज्य दे दिया । महाभारत में जरासंध वध करके जिस समृद्ध राज्य की युधिष्ठिर - भीम ने प्राप्ति की, उसे स्वयं अपने भोग के लिये न रख कर, उन उन राजाओं के उत्तराधिकारियों को दे दिया । महाभारत के प्रचण्ड युद्धरूपी दिशा में अपने मन की गति करने वाले युधिष्ठिर युद्ध के बाद प्राप्त विजय को अपने भोग के लिये न रख कर, अपने उत्तराधिकारियों को राज्य समर्पित करते हुए इसी नैतिकता का जीवन जीते हैं और लोगों को ऐसा जीवन जीने का आदर्श प्रस्तुत करते हैं ।

अधिक क्या कहें, परिश्रम से कमाये गये धन का मात्र अपने ही लिये उपयोग में लेने वाले आज के मानव समुदाय को यदि इस एक नीति पर चलने के लिये तैयार कर दिया जाय, तो समग्र मानव समाज एक समानरूप से विकास कर सकता है और सुख, शान्ति, आनन्द की प्राप्ति कर सकता है । अत्यन्त संक्षेपतः कहना हो तो मानव समाज में सर्वत्र सुख शान्ति तथा विकास के लिये यदि किसी एक नीति का निर्धारण करना हो, तो वह नीति महाप्रज्ञ की नीति है , इदं मम को होने पर भी स्वयं स्वीकृत भावनारूप इदं न मम की नीति है ।

इसी एकमात्र नीति को नैतिकता का सर्वोच्च वैदिक आदर्श माना जाता रहा है । आज सुख के साधनों की प्रचूर उपलब्धता के होने पर भी आज के मानव समाज में इस नैतिकता के अभाव के कारण मानव समाज सम्पूर्ण रूप से सुखी नहीं दिखाई देता है । यदि नैतिकता के इस सर्वोच्च वैदिक आदर्श को आज सभी मानव स्वीकार करलें तो मानव समाज में सुख का अवश्य प्रसार हो सकता है ।

इत्यलम् बुद्धिमद्वर्येषु ॥

सन्दर्भ :::

1. उमा आर्ट्स तथा नाथीबा कोमर्स महिला कोलेज, गांधीनगर (गुजरात) के द्वारा आयोजित " संस्कृत साहित्य परंपरा में नैतिक मूल्य एवं मानवाधिकार की अभिव्यक्ति " विषयक नेशनल सेमिनार में दि. 20 मार्च, 2013 (बुधवार) को प्रस्तुत आलेख
2. तुलना करें - आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् । .. 0 - अभियुक्तोक्तिः ॥
3. भगवान् महावीर ने मोक्ष की प्राप्ति के जो चार हेतु बताये हैं, उनमें एक भाव (भावना) भी है ।
4. पंचतंत्र के अनुवादक श्री आर्थर डबल्यू रायडर का यह विधान है कि - संस्कृत भाषा में जो यह नीति - नैतिकता शब्द है, और उस शब्द के पीछे जो भावना है , उसे व्यक्त करने के लिये अंग्रेजी, फ्रेंच, लेटिन या ग्रीक जैसी विश्व की अनेक भाषाओं में कोई शब्द ही नहीं है । (द्रष्टव्य - पंचतन्त्र (गुजराती) , सं. भोगीलाल सांडेसरा , प्रका. गुजराती साहित्य परिषद् , अमदावाद , सन् -)
5. ऋग्वेद , मं. 10 सू. 71 मन्त्र 7
6. द्रष्टव्य - सायणभाष्यम् , ऋग्वेदः , मं. 10 सू. 71 मन्त्र 7
7. द्रष्टव्य - षड् भावविकाराः भवन्तीति वार्ष्ण्ययणिः । जायते अस्ति विपरिणमते वर्धते अपक्षीयते विनश्यतीति । - निरुक्तम् , अध्याय - 1 , पाद - 1 , खण्ड - 2 , पृ. 19 (दुर्गटीकासहितम् , आनन्दाश्रम संस्करणम् , पूना , सन् - अनुपलब्ध)
8. तत्रैव , पृ. 19

प्रो. कमलेशकुमार छ. चोकसी

संस्कृत विभाग, भाषासाहित्यभवनम् ,

गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदावाद - 380009